शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

माघ : २४८२ ☆ वर्ष ग्यारहवाँ ☆ अंक : १०

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

❀ आत्मा की आराधना का मार्ग ❀

भवभ्रमण से थका हुआ जिज्ञासु शिष्य, आत्मा की यथार्थ पहिचान करने के लिये श्रीगुरु के निकट आकर पूछता है कि—''हे प्रभो! मैं आत्मा के भान बिना अनंत अवतारों में भटक-भटककर थक गया हूँ! नाथ! अब मुझे ऐसी प्रीति कहिये जिससे मैं आत्मा को समझकर भवभ्रमण से छूट सकूँ... मुझे आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझाइये!''

श्रीगुरु कहते हैं कि हे भाई! तू आत्मा का इच्छुक होकर पूछने आया है तो हम तुझे आत्मा का स्वरूप समझाते हैं! आत्मा के धर्मों द्वारा उसकी पहिचान करने से वह प्राप्त होता है-(अनुभव में आता है।) हम जो कह रहे हैं, उसे शांत होकर सुन। इस बात को स्वीकार करके रुचि करने से उस में परिणमन हुए बिना नहीं रहेगा। आत्मा को पहिचानकर उसकी रुचि और एकाग्रता करना, वह आत्मा की आराधना का मार्ग है; किन्तु उसके लिये आत्मा की सच्ची लगन होना चाहिये! सच्ची लगन लग जाये, उसे आत्मा का स्वरूप अवश्य समझ में आ जाता है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१३०

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि को भी, राग तो बंध का ही कारण है, शुद्धस्वरूप-परिणमनमात्र से ही मोक्ष है।

समयसार के पुण्य-पाप अधिकार के ११० वें कलश में श्री आचार्यदेव कहते हैं कि —

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किंत्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्मबंधाय तन्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमंज्ञानं विमुक्तं स्वतः॥११०॥

अर्थ : जबतक ज्ञान की कर्मविरति बराबर परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होती, तबतक कर्म और ज्ञान का एकत्व शास्त्र में कहा है; उनके एकत्रित रहने में किंचित्मात्र क्षति अर्थात् विरोध नहीं है। परन्तु यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि आत्मा में अवशरूप से जो कार्य प्रगट होता है अर्थात् उदय होता है, **वह तो बंध का कारण होता है, और मोक्ष का कारण तो, जो एक परम ज्ञान है, वह एक ही होता है**-कि जो ज्ञान स्वतः विमुक्त है (अर्थात् तीनों काल परद्रव्य-भावों से भिन्न है।)

भावार्थ : जबतक यथाख्यातचारित्र नहीं होता, तबतक सम्यग्दृष्टि को दो धारा रहती है—शुभाशुभ कर्मधारा और ज्ञानधारा। इन दोनों के साथ रहने में कुछ भी विरोध नहीं है। (जिस तरह मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान को पारस्परिक विरोध है, उसी तरह कर्मसामान्य को और ज्ञान को विरोध नहीं है।) उस स्थिति में **कर्म अपना कार्य करता है और ज्ञान अपना कार्य करता है। जितनी मात्रा में शुभाशुभ कर्मधारा है, उतनी ही मात्रा में कर्मबंध होता है और जितनी मात्रा में ज्ञानधारा है, उतनी ही मात्रा में कर्म का नाश हुआ करता है। विषयकषाय के विकल्प और व्रत-नियम के विकल्प-शुद्धस्वरूप का विचार भी कर्मबंध का कारण है। शुद्धपरिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है।**

(समयसार : नवीन आवृत्ति, पृ. २६३-२६४)

विशेष में इस कलश के अर्थ में श्री राजमल्लजी भी स्पष्टीकरण करते हैं कि—

यहाँ कोई भ्रान्ति करेगा कि — 'मिथ्यादृष्टि को यतिपना क्रियारूप है, वह तो बंध का कारण है, किन्तु सम्यग्दृष्टि को जो यतिपना शुभक्रियारूप है, वह मोक्ष का कारण है, क्योंकि अनुभवज्ञान तथा दया, व्रत, तप, संयमरूप क्रिया-उभय मिलकर ज्ञानावरणादि कर्म का क्षय करते

हैं'—ऐसी प्रतीति कोई अज्ञानी जीव करता है–उसका समाधान इस प्रकार है—

जो कोई भी शुभ–अशुभ क्रिया–बहिर्जल्परूप विकल्प अथवा अंतर्जल्परूप अथवा द्रव्य के विचाररूप अथवा शुद्धस्वरूप के विचार इत्यादि–हैं, वह समस्त कर्म–बंध का कारण है; ऐसी क्रिया का वैसा ही स्वभाव है। सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि का वैसा कोई भेद नहीं है।

(अर्थात् ऊपर अज्ञानी ने कहा इसप्रकार शुभक्रिया मिथ्यादृष्टि को तो बंध का कारण होती है और वही क्रिया सम्यग्दृष्टि को मोक्ष का कारण है–ऐसा तो उनमें भेद नहीं है।) ऐसी क्रिया से तो उसको (समकिती को भी) बंध है, और शुद्ध स्वरूप परिणमन मात्र से मोक्ष है। यद्यपि एक ही काल में सम्यग्दृष्टि जीव को शुद्धज्ञान भी है और क्रियारूप परिणमन भी है,—किन्तु उसमें विक्रियारूप जो परिणाम है, उससे तो अकेला बंध होता है, उससे कर्म का क्षय एक अंश भी नहीं होता, ऐसा वस्तु का स्वरूप है।—तो उपाय क्या है? उस काल ज्ञानी को शुद्धस्वरूप का अनुभवज्ञान भी है, उस ज्ञान के द्वारा उस समय कर्म का क्षय होता है, उससे एक अंशमात्र भी बंधन नहीं होता,—वस्तु का ऐसा ही स्वरूप है, उसे यथावत् कहते हैं।''

[देखिये, समयसार कलशटीका पृ. ११२]

उपरोक्तानुसार स्पष्टीकरण करके फिर उस कलश का अर्थ विस्तृतरूपेण लिखा है, उसमें भी उस विषय की स्पष्टता है; उसके अंत में लिखते हैं कि ''...शुभक्रिया कभी भी मोक्ष का कारण नहीं हो सकती, वह केवल बंध की ही रचयित्री है—ऐसी श्रद्धा करने से ही मिथ्या बुद्धि का नाश होकर सम्यग्ज्ञान का लाभ होगा! मोक्ष का उपाय तो एक मात्र निश्चयरत्नत्रयमय आत्मा की शुद्ध वीतरागपरिणति है!''

[विशेष के लिये देखिये समयसार कलश टीका पृ. ११२ से ११४]

आत्मधर्म

माघ : २४८२ ☆ वर्ष ग्यारहवाँ ☆ अंक : ११

व्यवहारनय के आश्रय से कल्याण क्यों नहीं है ?

[मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय सोनगढ़ में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन : वीर सं. २४७९, चैत्र शुक्ला - ५]

[अंक ११५ से आगे]

''अहो ! यह पर से भिन्न मेरे ज्ञायकतत्व की बात है; अपने ज्ञायकतत्व की प्रतीति करने में किसी राग का अवलम्बन है ही नहीं''—ऐसे लक्षपूर्वक अर्थात् स्वभाव के उत्साहपूर्वक एकबार भी जो जीव यह बात सुने, वह भव्य जीव अवश्य ही अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करता है। यह यों ही सुन लेने की बात नहीं है, किन्तु सुननेवाले पर निर्णय करने की जिम्मेवारी है।

अज्ञानी लोग कहते हैं कि —व्यवहार करते-करते धर्म हो जायेगा,—किन्तु वह मूढ़ता है। अरे भाई ! राग और भेद को व्यवहार भी तब कहा जाता है कि जब उस राग और भेद से पार—ऐसे भूतार्थ आत्मस्वभाव की दृष्टि हो। जिसे ऐसी दृष्टि तो हुई नहीं है और राग तथा भेद के आश्रय से धर्म होना मानता है, वह तो अकेले अधर्म का ही पोषण करता है।—ऐसे जीव ने धर्म की कथा (शुद्ध आत्मा की कहानी) वास्तव में कभी सुनी ही नहीं है, किन्तु बंध की ही कथा सुनी है। वह भगवान की वाणी सुन रहा हो, उससमय भी वास्तव में तो वह बंधकथा ही सुन रहा है, क्योंकि

उसकी रुचि का बल बंधभाव पर है-अबन्ध आत्मस्वभाव की ओर उसकी रुचि का बल नहीं है। भले ही वह समवशरण में बैठा हो और साक्षात् तीर्थंकर भगवान की वाणी कानों में पड़ रही हो, किन्तु उससमय जिस जीव की मान्यता ऐसी है कि—''ऐसी श्रेष्ठ वाणी सुनने से ही मुझे ज्ञान हुआ है''—तो वह जीव वास्तव में भगवान की वाणी नहीं सुनता किन्तु बंधकथा ही सुनता है; भगवान की वाणी का अभिप्राय वह समझा ही नहीं है। अनंतबार समवशरण में जाकर अज्ञानी ने क्या किया ?—कहते हैं, बंधकथा ही सुनी। ''निमित्त से मेरा ज्ञान नहीं होता, राग से भी मेरा ज्ञान नहीं होता, और न मेरा ज्ञानस्वभाव राग का कर्ता है; मैं ज्ञानस्वभाव हूँ, ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से ही मेरा ज्ञान होता है''—ऐसी ज्ञानस्वभाव की रुचि और सन्मुखतापूर्वक जिसने ज्ञानी के निकट जाकर एकबार भी शुद्ध आत्मा की कथा सुनी है, वह जीव अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त किये बिना नहीं रहेगा। श्री पद्मनन्दि मुनिराज कहते हैं कि—

तत्प्रति प्रीतिचितेन येनऽवार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्॥

राग की प्रीति नहीं, व्यवहार की प्रीति नहीं, किन्तु शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा की प्रीति करके... उसके प्रति उल्लास से जिस जीव ने उसकी कथा सुनी है, वह जीव अवश्य मुक्ति प्राप्त करता है। ''अहो! यह पर से भिन्न मेरे ज्ञायकतत्त्व की बात है, अपने ज्ञायकतत्त्व की प्रतीति करने में किसी राग का अवलम्बन है ही नहीं''—ऐसे लक्षपूर्वक अर्थात् स्वभाव की ओर के उत्साहपूर्वक जो जीव एकबार भी यह बात सुने, वह भव्य जीव अवश्य ही अल्प काल में मुक्ति प्राप्त करता है। देखो, यह यों ही सुन लेने की बात नहीं है, किन्तु श्रोता पर निर्णय करने की जिम्मेवारी है। अनादि से जो माना था, उसमें और इस बात में मूलभूत अन्तर कहाँ पड़ता है—वह बराबर समझकर निर्णय करना चाहिये। अभी तक अपनी मान्यता में कहाँ भूल थी और अब यह बात सुन लेने के पश्चात् उसमें कहाँ अन्तर पड़ा—उसका भेद किये बिना यों ही सुन ले तो उससे आत्मा को सत्य का किंचित् लाभ नहीं होगा। अकेले शब्द तो पहले अनन्त बार सुने, किन्तु तत्त्वनिर्णय के बिना आचार्यदेव उसे श्रवण ही नहीं कहते, इसलिये समयसार में कहा है कि जीवों ने शुद्धात्मा की बात पहले कभी सुनी ही नहीं है। शुद्धात्मा के शब्द तो सुने किन्तु स्वयं अन्तर्मुख होकर उसका निर्णय नहीं किया, इसलिये उसने वास्तव में शुद्धात्मा की बात सुनी ही नहीं है। देखो, श्रवण का सच्चा तात्पर्य क्या है, वह बात भी इस में आ गई। श्रवण में परलक्ष से जो शुभराग

होता है, वह वास्तव में तात्पर्य नहीं है, किन्तु तत्त्व का निर्णय करके अन्तर में शुद्ध आत्मा का अनुभव करना ही सच्चा तात्पर्य है। अहो! जब देखो तब एक समय में परिपूर्ण तत्त्व भीतर भरा है; भगवान आत्मा अपने स्वभाव की परिपूर्ण शक्ति का संग्रह करके बैठा है, उसके स्वभावसामर्थ्य का एक अंश भी कम नहीं हुआ, और न तीनकाल में एक समय भी उस स्वभाव का विरह है; स्वयं जागृत होकर भीतर दृष्टि करे, इतनी ही देर है; यह स्वभाव ऐसा है कि जिसमें दृष्टि करते ही निहाल हो जाते हैं। ''मैं परिपूर्ण हूँ''—इत्यादि रागरूप विकल्प भी उसमें नहीं हैं; किन्तु उपदेश में समझायें कैसे? उपदेश में उसका कथन करते समय स्थूलता हो जाती है; इसलिये वास्तव में वह उपदेश का विषय नहीं है, किन्तु अन्तर्दृष्टि का और अन्तर्अनुभव का विषय है। उपदेश तो निमित्तमात्र है। स्वयं अन्तर्दृष्टि करके समझे, तभी समझ में आये—ऐसा अचिन्त्य स्वभाव है। ''**भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो**'' अर्थात् भूतार्थस्वभाव का आश्रय करनेवाला जीव ही सम्यग्दृष्टि है—ऐसा कहकर आचार्यदेव ने सम्यग्दर्शन का गम्भीर रहस्य खोल दिया है। जिसप्रकार उपादान में ''पर्याय की योग्यता''—ऐसा एक ही प्रकार है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन में ''आत्मा के अभेद स्वभाव का आश्रय''—यह एक ही प्रकार है। सम्यग्दर्शन के ध्येयरूप अभेदस्वभाव एक ही प्रकार का है; उसकी दृष्टि होने के पश्चात् भेद के विकल्प को व्यवहार कहा जाता है। उसके बदले जो ऐसा मानते हैं कि—व्यवहार पहले और फिर उससे निश्चय की प्राप्ति होती है; वे व्यवहारमूढ़ हैं, उन्हें जैनधर्म के सिद्धान्त की खबर नहीं है। ''मैं एक ज्ञानस्वभाव ही हूँ, राग या निमित्त मैं नहीं हूँ, ज्ञानस्वभाव में ही मेरा सर्वस्व है''—ऐसा लक्ष अन्तर में हुए बिना निश्चय-व्यवहार या उपादान-निमित्त की भूल दूर नहीं हो सकती, और वह भूल दूर हुए बिना दूसरे चाहे जितने उपाय करे, तथापि कल्याण नहीं होता। इसलिये जिसे आत्मा का कल्याण करना हो—धर्मी होना हो—उसे यह बात अच्छी तरह समझकर निर्णय करने योग्य है।●●

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की
कुछ शक्तियाँ

[१८]

उत्पाद-व्ययध्रुवशक्ति

आत्मा में अनंत धर्म होने पर भी उसे ''ज्ञानस्वरूप'' कहा है, क्योंकि ज्ञान उसका लक्षण है।—कौन-सा-ज्ञान ?—कहते हैं कि जिस ज्ञान ने अन्तर्मुख होकर लक्ष्य को लक्ष में लिया, वह ज्ञान लक्षण हुआ और उस लक्षण ने अनेकान्तस्वरूप भगवानआत्मा को प्रसिद्ध किया। ज्ञान ने अन्तर्मुख होकर आत्मा को पकड़ लिया, इसलिये उसके साथ श्रद्धा-आनन्द-सुख-जीवन-प्रभुता-स्वच्छता-वीर्य-कर्तृत्वादि अनन्त शक्तियाँ भी निर्मलतारूप परिणमित हो रही हैं; किन्तु उनमें ज्ञान ही स्व-परप्रकाशकरूप से प्रसिद्ध होने के कारण ज्ञानलक्षण द्वारा आत्मा की पहिचान कराई है। और इसलिये अनन्तधर्मस्वरूप आत्मा को ज्ञानमात्र कहने से एकान्त नहीं हो जाता, किन्तु ज्ञान के साथ दूसरी अनन्त शक्तियाँ उल्लसित होती हैं; इसलिये अनेकान्त है। ज्ञानपरिणमन के साथ निर्मलरूप से उल्लसित होनेवाली शक्तियों का यह वर्णन चल रहा है। उनमें से सत्रह शक्तियों का विवेचन हो गया है; अब अठारहवीं उत्पाद-व्यय-ध्रुवशक्ति का विवेचन होता है। यह शक्ति मुख्यरूप से समझने योग्य है।

क्रम प्रवृत्तिरूप और अक्रमप्रवृत्तिरूप वर्तन जिसका लक्षण है—ऐसी उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व नाम की शक्ति है; यह शक्ति भी आत्मा में त्रिकाल है।

देखो, अभी हाल क्रमबद्धपर्याय की बात स्पष्टरूप से प्रगट होने पर कोई ऐसा कहे कि—''पर्याय क्रमबद्ध ही हो ऐसी कोई शक्ति आत्मा में नहीं है।'' किन्तु यहाँ तो स्पष्ट कहते हैं कि सारा द्रव्य ही क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होने के स्वभाववाला है। द्रव्य की उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति ही ऐसी है कि क्रमबद्धपर्यायरूप से ही परिणमित होती है और गुण अक्रम एकसाथ वर्तते हैं। पर्याय को क्रमबद्ध न माने तो उसने उत्पाद-व्यय-ध्रुवशक्ति को ही नहीं माना है; और यह

शक्ति अनन्त गुणों में व्यापक होने से अनन्त गुण भी अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से ही परिणमित होते हैं। अज्ञानी तो कहते हैं कि—''आत्मा में क्रमबद्धपर्याय हो—ऐसी एक भी शक्ति नहीं है;' जबकि यहाँ कहते हैं कि द्रव्य के समस्त गुणों का स्वभाव क्रमबद्धपर्यायरूप से ही परिणमन करने का है।

पर्यायें उत्पाद-व्ययरूप हैं और गुण ध्रुवरूप हैं; उत्पाद-व्ययरूप पर्यायें क्रमवर्ती हैं और ध्रुवरूप गुण अक्रमवर्ती हैं। सभी गुण एकसाथ अक्रम से वर्तते हैं; इसलिये उन्हें अक्रमवर्ती कहा है; किन्तु समस्त गुणों की पर्यायें तो क्रमबद्ध ही हैं। क्रमबद्धपर्याय का जो सिद्धान्त है, उसके समक्ष अज्ञानी ऐसी दलील करते हैं कि—''पर्यायें क्रमबद्ध ही हों-ऐसा कोई गुण आत्मा में नहीं है।'' किन्तु यहाँ उसका स्पष्टीकरण आ जाता है कि द्रव्य के समस्त गुणों में ऐसा स्वभाव है कि गुणरूप से ध्रुव रहकर क्रमबद्धपर्यायोंरूप से परिणमित होते हैं। इसप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति से सारा द्रव्य क्रम-अक्रम स्वभाववाला है।

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार के प्रारम्भ में गाथा ३०८ से ३११ में आचार्यदेव ने यह बात स्पष्ट की है कि जीव और अजीव समस्त द्रव्य अपने क्रमबद्धपर्याय परिणामरूप से परिणमित होते हैं। अज्ञानी कहते हैं कि क्रमबद्ध परिणमित होने का कोई गुण नहीं है; आचार्यदेव कहते हैं कि सारा द्रव्य ही ऐसा है। द्रव्य के प्रत्येक गुण में भी ध्रुवरूप रहने और क्रमरूप परिणमित होने का स्वभाव है। इस एक उत्पाद-व्यय-ध्रुव शक्ति को बराबर जान ले तो,—पर्याय उल्टी-सीधी या निमित्त के कारण होती है—ऐसी विपरीत दृष्टि न रहे।

पुनश्च, ध्रुव उपादान और क्षणिक उपादान की बात भी इसमें आ जाती है। त्रिकाली स्वभाव, वह ध्रुव उपादान है और एक-एक समय की पर्याय की योग्यता, वह क्षणिक उपादान है। प्रत्येक समय की क्रमबद्धपर्याय स्वयं अपना क्षणिक उपादान हैं, इसलिये निमित्त के कारण पर्याय हो, यह बात नहीं रहती। आत्मा के गुण का ध्रुवत्व होने से वह ध्रुव उपादान है और वह अक्रमवर्ती है तथा पर्यायें उत्पाद-व्ययरूप होने से क्षणिक उपादान है और क्रमवर्ती है। इसप्रकार आत्मा के उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वस्वभाव में ध्रुव उपादान और क्षणिक उपादान दोनों आ जाते हैं।

ध्रुव उपादान अक्रमवर्ती है, अर्थात् समस्त गुण ध्रुवरूप से एकसाथ सहवर्ती हैं; पहले ज्ञान, फिर दर्शन, फिर सुख—ऐसा क्रम उनमें नहीं है; और क्षणिक उपादान क्रमवर्ती है; इसलिये पर्यायें एक के बाद एक होती हैं। सिद्धपर्याय के समय संसारपर्याय नहीं होती; संसारपर्याय के

समय सिद्धपर्याय नहीं होती; मतिज्ञान के समय केवलज्ञान नहीं होता, केवलज्ञान के समय मतिज्ञान नहीं होता;—इसप्रकार पर्यायें क्रमवर्ती हैं, किन्तु गुण तो सब एकसाथ ही वर्तते हैं। संसारदशा के समय या सिद्धदशा के समय उतने के उतने गुण सदैव एकसाथ वर्तते हैं। इसप्रकार क्रम और अक्रमवर्तीरूप वस्तु स्वभाव है। गुणरूप से सदैव अचल रहने की और पर्यायरूप से प्रतिसमय पलटने की वस्तु की शक्ति है; उसका नाम उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति है। ज्ञानस्वभावी आत्मा के परिणमन में वह उत्पाद-व्यय-ध्रुवशक्ति भी साथ ही परिणमित होती है।

ज्ञानी अपनी ऐसी शक्तिवाले आत्मा को पहचानकर उसके आश्रय से निर्मलरूप से परिणमित होते हैं, इसलिये उनके शक्ति निर्मलरूप से उछलती हैं। यद्यपि अज्ञानी के भी ऐसी शक्तियों का परिणमन है, परन्तु उसे उसकी पहचान नहीं है, इसलिये वह शक्तिस्वभाव का आश्रय करके परिणमित नहीं होता और अकेले पर के लक्ष से ही परिणमन करता है; इसलिये उसके विपरीत परिणमन होता है। यहाँ तो ऐसी बात है कि—अन्तर में अनन्त शक्ति के पिण्डरूप आत्मस्वभाव का अवलम्बन लेकर, उसके सन्मुख एकाकार अभेद होकर निर्मलपर्यायरूप से परिणमित हो, वही आत्मा का सच्चा परिणमन है; उसी में भगवानआत्मा प्रसिद्ध होता है। स्वभाव से च्युत होकर, एकान्त पराश्रय से विकाररूप परिणमित हो, उसमें वास्तव में आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है; इसलिये सचमुच वह आत्मा नहीं है, और इसी से अज्ञानी के आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती।

पर्याय में क्रमवर्तीपना तो ज्ञानी और अज्ञानी—दोनों को है, किन्तु ज्ञानी के स्वभावोन्मुखता के कारण क्रमवर्ती पर्यायें निर्मल होती हैं और अज्ञानी को परोन्मुखता के कारण क्रमवर्ती पर्यायें मलिन होती हैं। विभावरूप परिणमन, वह शक्ति का यथार्थ परिणमन नहीं है; शक्ति में अभेद होकर निर्मलस्वभावरूप परिणमन हो, वही उसका यथार्थ परिणमन है। अक्रमरूप गुण और क्रमरूप पर्यायें;—ऐसे गुण-पर्यायों के पिण्डरूप आत्मस्वभाव का आश्रय करके जीव परिणमित हुआ, तब उत्पाद-व्यय-ध्रुव इत्यादि शक्तियों का यथार्थ भान हुआ और तभी शक्तियों का सच्चा परिणमन प्रगट हुआ। इसप्रकार साधकदशा की यह बात है। शक्ति तो त्रिकाल है; किन्तु पहले अभानदशा में उसका विभाव-परिणमन था और भान होने पर उसका स्वभावपरिणमन प्रारम्भ हुआ। इसप्रकार स्वभाव के आश्रय से निर्मलपरिणमन होता है, वह इन शक्तियों की पहिचान का फल है।

आत्मा में शक्तियाँ और उनका परिणमन तो सदैव है; किन्तु अनादिकाल से वह परिणमन

पराश्रित होने से संसार है। यदि वह परिणमन स्वाश्रित हो तो संसार न रहे। आत्मा की अनन्त शक्तियों में से प्रत्येक शक्ति को पृथक् लक्ष्य में लेने से शक्ति का निर्मल परिणमन नहीं होता किन्तु विकार होता है। आत्मा एकसाथ अनन्त शक्ति सम्पन्न है; अनन्त शक्ति के पिण्डरूप जो स्वभाव है, उसके अवलम्बन से परिणमित होने पर मोक्षमार्गरूप परिणमन होता है; उस परिणमन में अनन्त शक्तियाँ निर्मलरूप से उछलती हैं, और वही शक्तियों का यथार्थ परिणमन है। विभाव, आत्मा का यथार्थ परिणमन नहीं है—ऐसा कहकर उसकी बात उड़ा दी; यानि अज्ञानियों को उस शक्ति का निर्मल-मोक्षमार्गरूप परिणमन नहीं होता। यहाँ जो बात चल रही है, वह तो शक्तियों के निर्मल परिणमन की बात है। ज्ञान को अन्तर्मुख करके अनेकान्त द्वारा जिसने भगवानआत्मा को प्रसिद्ध किया है, उसके अभेद परिणमन में यह समस्त शक्तियाँ निर्मलरूप से उछलती हैं।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व तो समस्त जीवों को अनादिकाल से है ही; उत्पाद-व्यय-ध्रुव रहित कोई जीव एक क्षण भी नहीं हो सकता, किन्तु ज्ञानी अपने ऐसे स्वभाव को जानता हुआ, उसके आश्रय से निर्मलतारूप उत्पन्न होता है और अज्ञानी उस स्वभाव को नहीं जानता, इसलिये पराश्रय से विकाररूप उत्पन्न होता है—बस! इसी में धर्म-अधर्म का समावेश हो जाता है। स्वाश्रित निर्मल परिणमन, वह धर्म और मोक्षमार्ग है तथा पराश्रित विकारी परिणमन, वह अधर्म और संसार है। अभव्य जीव के भी ज्ञानगुण तो अनादि-अनन्त परिणमित होता है; ज्ञानपरिणमन के बिना तो एक समय भी नहीं होता, किन्तु उसे अपने ज्ञानस्वभाव की खबर नहीं है; इसलिये वह ज्ञानशक्ति का आश्रय करके परिणमित नहीं होता, इसी कारण उसे ज्ञानशक्ति का यथार्थ परिणमन नहीं होता। ज्ञानशक्ति के साथ अभेद होकर परिणमित न होकर पर के साथ एकता मानकर परिणमित होता है, वह ज्ञान का यथार्थ परिणमन नहीं है। ज्ञानशक्ति के साथ एकता करके परिणमित हो, वही ज्ञान का यथार्थ परिणमन है। उसी प्रकार यह उत्पाद-व्यय-ध्रुवशक्ति भी समस्त जीवों में त्रिकाल है, और उसका परिणमन भी हो रहा है; किन्तु अज्ञानी को स्वभाव में अभेद परिणमन नहीं है, इसलिये अकेला विभावरूप परिणमन है; वह विभावरूप परिणमन भी उसकी अपनी शक्ति का विपरीत परिणमन है, वह पर के कारण नहीं है। यदि विभावरूप परिणमन, पर के कारण होता हो तो उससमय उसकी शक्ति का अपना तो कोई कारणपना ही न रहा; इसलिये शक्ति ही नहीं रही, और शक्ति के बिना आत्मा भी नहीं रहा! इसलिये यह दृष्टि विपरीत है। विभावपरिणमन भी उसका अपना है, किन्तु वह स्वभाव के साथ एकमेक नहीं है; इसलिये वह शक्ति का यथार्थ परिणमन नहीं

है—ऐसा ज्ञानी जानते हैं। जो अकेले विभाव के ही क्रमरूप परिणमित हो, उसे वास्तव में आत्मा ही नहीं कहते। यद्यपि ''आत्मा'' मिटकर वह कहीं जड़ नहीं हो गया है, किन्तु उसे स्वयं कहाँ आत्मा की खबर है ? उसे स्वयं आत्मा की खबर नहीं है; इसलिये उसकी दृष्टि में आत्मा है ही नहीं। क्रम और अक्रमरूप से वर्तन के स्वभाववाला आत्मद्रव्य है, उसका आश्रय (रुचि और लीनता) करके जो परिणमित हुआ, उसी को आत्मा की प्रसिद्धि हुई है; यानी जो स्वाश्रय करके निर्मलतारूप से परिणमित हुआ, वही वास्तव में आत्मा है।

''आत्मा का क्रम-अक्रम स्वभाव है; इसलिये उसकी पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी;''—ऐसा कोई कहे तो उसकी बात झूठ हैं; आत्मा के क्रम-अक्रम स्वभाव (उत्पाद-व्यय-ध्रुवशक्ति) को वह समझा नहीं है। भाई! अक्रमपना तो गुणों की ध्रुवता अपेक्षा से है; पर्याय अपेक्षा से कहीं अक्रमपना नहीं है; पर्यायें तो कमवर्ती स्वभाववाली ही हैं।

वस्तु के समस्त गुण सहभावी हैं, अर्थात् एकसाथ सर्व प्रदेश में हैं; एक-दूसरे का साथ नहीं छोड़ते, इसलिये उनसे क्षेत्रभेद या कालभेद नहीं है और पर्यायें क्रमभावी हैं; इसलिये एक के बाद दूसरी होती है, दो पर्यायें एकसाथ नहीं होतीं, इसलिये उनमें कालभेद है।

पर्यायें क्रमवर्ती होने पर भी उल्टी-सीधी नहीं हैं किन्तु नियत है। जिसप्रकार वस्तु के सर्व गुण एकसाथ ही वस्तु में सर्व प्रदेशों में व्याप्त है; उनमें से कभी कोई गुण कम या अधिक नहीं होता; उसी प्रकार वस्तु के अनादि-अनन्त प्रवाहक्रम में तीनकाल की पर्यायें अपने-अपने समय में व्याप्त हैं। तीनकाल की पर्यायों का प्रवाह नियत विद्यमान हैं, पर्यायों की क्रमबद्धधारा की संधि कभी नहीं टूटती। इसप्रकार पर्याय को ''क्रमवर्ती'' कहने से उसका अर्थ ''निश्चित् क्रमबद्ध'' होता है—उसका स्पष्टीकरण किया। कोई ऐसा कहे कि ''क्रमवर्ती'' का अर्थ सिर्फ ''एक के बाद एक''—इतना ही करना चाहिये; एक के बाद एक होनेवाली पर्याय में अमुक समय अमुक ही पर्याय होगी—ऐसा नहीं मानना चाहिये;—किन्तु उसकी यह बात मिथ्या है। क्रमवर्तीपर्याय कहने से एक के बाद एक तो ठीक, किन्तु किस समय कौन पर्याय होना है, उसका क्रम भी निश्चित है। प्रमेयकमलमार्तण्ड (३-२८) में ''क्रमभाव'' के लिए नक्षत्रों का दृष्टान्त दिया है।

जिस प्रकार २८ नक्षत्र निश्चित् क्रमबद्ध है; ७ वार निश्चित् क्रमबद्ध हैं; उसी प्रकार द्रव्य की तीनों काल की पर्यायें भी निश्चत् क्रमबद्ध हैं। पर्यायों को क्रमबद्ध न माने तो वस्तु में उत्पाद-व्यय सिद्ध नहीं होते; उत्पाद-व्यय के बिना ध्रुवता भी नहीं रह सकती और उत्पाद-व्यय-ध्रुवता के

बिना वस्तु ही ''सत्'' सिद्ध नहीं होती; क्योंकि ''सत्'' सदैव उत्पाद-व्यय ध्रुवयुक्त ही होता है; उत्पाद-व्यय-ध्रुवरहित कोई भी वस्तु सत् नहीं हो सकती। अहो! एक उत्पाद-व्यय-ध्रुवशक्ति के वर्णन में ही कितना रहस्य भरा है।

यहाँ २८ नक्षत्रों का उदाहरण देते समय २८ मूलगुण याद आ गये। देखो, प्रकृति के नक्षत्र २८ हैं और मुनियों के मूलगुण भी पूरे २८ हैं;—ऐसा प्राकृतिक मेल है। मुनिदशा भी सहज ही प्राकृतिक स्वभाव के साथ सम्बन्ध रखनेवाली है न!

—उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति तो प्रत्येक आत्मा में सदैव है; किन्तु जो जीव उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वभावी आत्मा का लक्ष करके परिणमित हो, उसे इस शक्ति का भान हुआ कहा जाता है, और उसी को इसका यथार्थ परिणमन होता है। इसी प्रकार सभी शक्तियों में समझना चाहिये। जैसे कि प्रभुत्वशक्ति तो समस्त आत्माओं में त्रिकाल है, किन्तु अज्ञानदशा में उसका भान न होन से उसका विकारी परिणमन है। जब प्रभुत्वस्वभाव का भान करके उसके आश्रय से परिणमित हुआ, तब प्रभुता का यथार्थ परिणमन हुआ; और उसी प्रकार अकार्यकारणशक्ति भी प्रत्येक आत्मा में त्रिकाल है; उसका परिणमन भी सदैव होता ही रहता है; किन्तु अज्ञानी को उस शक्ति का भान नहीं है, इसलिये उसे उसका वास्तविक परिणमन नहीं होता। ज्ञानी को अपने अकार्यकारणस्वभाव का (-विकार का कार्य नहीं और विकार का कारण नहीं—ऐसे ज्ञानस्वभाव का) भान होने से पर्याय भी उस स्वभावरूप परिणमित हो गई; इसलिये पर्याय में भी अकार्यकारणपना व्याप्त है और इसप्रकार सभी शक्तियाँ द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त होती है। यह मुख्य समझनेयोग्य बात है। कोई ऐसा कहे कि अकार्यकारणपना पर्याय में नहीं होता—तो उसने वास्तव में अकार्यकारणशक्ति को जाना ही नहीं है। अकार्यकारणशक्ति को यथार्थरूप से जान ले और पर्याय में उसका निर्मल परिणमन न हो—ऐसा नहीं हो सकता।

यहाँ उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्ति का वर्णन चल रहा है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्ति तो जड़ में भी है; किन्तु उसकी शक्ति उसी में है, आत्मा में उसका नास्तिपना है। यहाँ तो आत्मा के ज्ञानमात्र भाव के साथ रहनेवाली शक्तियों का यह वर्णन है। यह शक्तियाँ ज्ञानमात्र भाव के साथ परिणमित होती हैं; जिसे ज्ञानमात्र भाव की खबर नहीं है और अकेले विभाव का ही परिणमन वर्तता है, उसके शक्ति का यथार्थ परिणमन नहीं है। पर्याय के क्रम को इधर-उधर मोड़ देने की बात तो दूर रही, किन्तु अपनी पर्याय के क्रम में जिसके अकेले विभाव का ही परिणमन है, उसे भी वस्तु

के क्रम-अक्रमस्वभाव की खबर नहीं है। वस्तु के क्रम-अक्रम स्वभाव को जाने तो स्वसन्मुख परिणमन हुए बिना न रहे; और उसके क्रम में अकेला विभावपरिणमन सहज नहीं, किन्तु साधकदशा हो जाये। विभावपरिणमन में क्रमपना होने पर भी वह आत्मा की त्रैकालिक शक्ति के अवलम्बन से हुआ परिणमन नहीं है, इसलिये वास्तव में वह आत्मा ही नहीं है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व नाम की शक्ति एक है, और क्रम-अक्रमरूप वर्तन उसका कार्य है; किन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि क्रम-अक्रमपना अकेली उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति में ही है और दूसरे गुणों नहीं है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति द्रव्य की है, इसलिये द्रव्य के सर्व गुणों में भी वह व्यापक है; इसी से प्रत्येक गुण, गुणरूप से ध्रुव रहकर क्रमवर्ती पर्यायरूप से परिणमित होता है—ऐसा क्रम-अक्रमपना प्रत्येक गुण में भी है। और ऐसे द्रव्य का आश्रय लेकर परिणमित होने से शक्ति का यथार्थ (सम्यक्, निर्मल) परिणमन होता है।—इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय अभेद होकर परिणमित हुए, उसी को वास्तव में आत्मा कहा जाता है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप को समझने पर ध्रुव के आश्रय से पर्याय का निर्मल परिणमन होने लगता है।

द्रव्य ध्रुवरूप रहकर पर्याय प्रतिसमय बदलती है; प्रत्येक गुण भी ध्रुव रहकर बदलता है और पर्याय नियमित क्रमानुसार वर्तती है। इसप्रकार क्रम-अक्रमरूप से प्रवर्तन करने के स्वभाववाली है। क्रम-अक्रमरूप वर्तन कहो या उत्पाद व्यय-ध्रुवता कहो; क्रम तो उत्पाद-व्यय को सूचित करता है और अक्रम ध्रुवता को। विकारी पर्याय या निर्मल पर्याय—प्रत्येक अपने-अपने क्रम में वर्तती है; उनमें से जो किसी भी पर्याय के निश्चित्क्रम को इधर-उधर करने में मानता है, उसे वस्तुस्वरूप की खबर नहीं है—ज्ञायकस्वभाव की खबर नहीं है। इसमें मुख्य विशेषता यह है कि वस्तु के ऐसे स्वभाव का जो निर्णय करता है, वह वस्तुस्वभाव के ज्ञाता हुआ; इसलिये उसके अपने में निर्मल पर्याय का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। स्वभावशक्ति की प्रतीति होने पर उसके आश्रय से निर्मलपर्याय परिणमित होने लगती है। फिर साधकदशा में अल्प विकार का परिणमन रहा उसका वह ज्ञाता है। विकार का वास्तव में कर्ता नहीं है और न उस पर्याय के क्रम को इधर-उधर करने की बुद्धि है। देखो, किसी भी शक्ति से आत्मा का निर्णय करने पर, ज्ञान अन्तर्मुख होकर परिणमन करता है—यही उसका फल है। [अपूर्ण]

''मुक्ति-सुन्दरी का नाथ''

[भगवान से भेंट करने निकले हुए मोक्षमार्गी मुनिवरों की अद्भुत कथा]

(वीर सं. २४८१, फाल्गुन शुक्ला २ के प्रवचन से : नियमसार कलश ८५-६)

भगवान से साक्षात् भेंट करने के लिये निकले हुए मोक्षमार्गी मुनिवर आनन्दसागर में झूल रहे हैं; अन्तर के चैतन्यसागर में उनके शांति का ज्वार आया है... आनन्दसागर उछला है... रोम-रोम में समाधि परिणमित हो गई है। ऐसे मुनि मानो ''चलते सिद्ध'' हों—ऐसी उनकी अद्भुत दशा है। मुक्ति-सुन्दरी कहती है कि मैं ऐसे शुद्ध रत्नत्रय के साधक मुनिवरों का ही वरण करती हूँ। ऐसे मोक्षमार्गी मुनिवर ही मुक्ति-सुन्दरी के नाथ होते हैं। ''जय हो... उन मुक्ति-सुन्दरी के नाथ की!''....

जिन्होंने अध्यात्म के सार का निर्णय किया है, यानी ज्ञानानन्दस्वभाव आत्मा का अंतर में निर्णय किया है; जिन्हें सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ है, और तदुपरान्त अंतरस्वरूप में लीन होने से शांत... शांत दशा प्रगट हो गई है—यानी समाधि परिणमित हो गई है—सहज वीतरागदशा अंतर्स्वरूप के अवलम्बन से वर्त रही है; उपशांतरस जम गया है—ऐसे मोक्षमार्गी मुनिवर वीतरागी समिति द्वारा सांसारिक क्लेशजाल को जलाकर मुक्तिसुन्दरी के नाथ होते हैं।

आज यहाँ भगवान सीमंधर परमात्मा की भेंट हुई है। भगवान की भेंट कैसे होती है?—पहले अंतर्मुख होकर चिदानन्द भगवान आत्मा की प्रतीति करे—श्रद्धा करे, फिर उसमें एकाग्र होने पर आत्मा में भगवान की भेंट होती है; आत्मा में भगवान पधारते हैं। आत्मा में लीनता द्वारा चिदानन्दभगवान को पकड़कर मुनिवर सांसारिक क्लेश को जड़ से उखाड़ फेंकते हैं और भगवान की साक्षात् भेंट करते हैं अर्थात् स्वयं ही परमात्मा हो जाते हैं।

देखो, मोक्षमार्गी मुनियों की दशा! ऐसा परमेश्वर का मार्ग है। परमेश्वर का मिलाप कैसे होता है? ...भगवान की भेंट कैसे होती है?—उसकी यह बात है। ऐसे मुनिवर परमेश्वर से भेंट करने निकले हैं। उनके श्रद्धा-ज्ञान में तो परमेश्वर से साक्षात् भेंट हो गई है और अंतर में लीन होकर पूर्णानन्दी परमेश्वर की साधना कर रहे हैं।

अंतर के चैतन्यसागर में मुनिवरों को शांति का ज्वार आया है; आनंद का समुद्र उछला है; वे आनन्दसागर में झूल रहे हैं, उनके रोमरोम में समाधि परिणमित हो गई है;—ऐसी मुनिदशा में सहजरूप से ही समिति होती है। चिदानंदस्वरूप में लीनता से मुनिवरों की ऐसी समाधि हो गई है कि समस्त जीवों के प्रति अनुकम्पा वर्तती है; आत्मा के शांतरस का वेदन होने से शत्रु के प्रति भी द्वेष की वृत्ति नहीं उठती। नि:शंकरूप से मोक्षमार्ग की स्थापना करते हैं, विपरीतता का खण्डन करते हैं, तथापि द्वेष का भाव नहीं होता; विरोधी के प्रति भी द्वेष नहीं है। अंतर में चैतन्य के आश्रय से अपना आनन्द प्रवर्तमान है, शांति के मुख्यमार्ग पर स्वयं विचरते हैं।

—ऐसे मुनिराज आहार के लिये जाते हैं, तब बीच में यदि किसी बालक आदि का रुदन सुनें, तो आहार की वृत्ति टूट जाती है—अरे! हम शांति के साधक, और बीच में यह अशांति की पुकार कहाँ से? हम तो अपने शांतरस का पोषण करनेवाले हैं, हमें यह अशांति का प्रसंग क्यों? ऐसे प्रसंग पर हमारा आहार नहीं हो सकता। आग लगी हो, या मारो-काटो ऐसी आवाज सुनाई दे उससमय भी मुनि आहार नहीं करते। अरे! हम तो शांतरस द्वारा सांसारिक दावानल बुझानेवाले हैं; ऐसे अग्नि प्रसंग पर हम आहार नहीं कर सकते। हम तो आत्मा के अतीन्द्रियआनन्द का भोजन करनेवाले हैं! इसप्रकार चैतन्य के अवलम्बनपूर्वक आहार की वृत्ति छूट जाती है। ऐसे मुनिवरों के एषणासमिति होती है।

जैनदर्शन के संत-मुनिवर कैसे होते हैं, उसका यह वर्णन है। मोक्ष की साधना करनेवाले मुनिवर वन-जंगल में विचरनेवाले और आत्मा के शांतरस में लीन होते हैं; इन्द्रियों की ओर से वृत्ति छूटकर आत्मा के अतीन्द्रिय-आनन्द में उनकी वृत्ति झुक गई है; माता के उदय से उत्पन्न बालक जैसी उनकी निर्दोष आकृति है। ऐसे मुनि आहार लेने के लिये वन में से ग्राम में पधार रहे हों; उससमय ऐसा लगता है मानो सिद्धभगवान ग्राम में प्रवेश कर रहे हैं!! जिसप्रकार आत्मा के भान रहित जीवों को ''चलता शव''—चलता-फिरता मुर्दा कहा है; उसी प्रकार चैतन्य की साधना करनेवाले संत मानो ''चलते सिद्ध'' हैं; जब वे डग भरते हैं, उससमय ऐसा लगता है मानो अपनी सिद्धदशा लेने के लिये चले जा रहे हों! ऐसा वीतरागी मुनियों का मार्ग है। तीनों काल वीतराग मार्ग में सब मुनियों की ऐसी ही अद्भुतदशा होती है।

ऐसे मुनिवर, भक्तों के हाथ से विधिपूर्वक दिया गया निर्दोष आहार ही लेते हैं; प्राण चले जायें, तथापि आहारादि की याचना नहीं करते। याचना करना मुनियों का मार्ग नहीं है, किन्तु वह तो

भिखारियों का मार्ग है। मुनि तो सिंहवृत्तिवाले होते हैं। जिसप्रकार सिंह सामनेवाले प्राणी से पूछता नहीं है कि ''तुझे मारूँ?'' उसी प्रकार वीतरागमार्ग के मुनिवर आहार के लिये कभी याचना नहीं करते। निस्पृह मुनिवर कभी याचना नहीं करते, किंतु भक्त खूब बहुमानपूर्वक योग्य विधि से आहार देते हैं। भरत चक्रवर्ती जैसे भी भोजन के समय आहारदान के लिये मुनिवरों की प्रतीक्षा करते थे कि अहो! कोई मुनिराज पधारें तो अपने आँगन में आहार के लिये पड़गाहन करूँ! इसप्रकार भक्तों द्वारा भक्तिपूर्वक हाथ में दिया गया निर्दोष आहार ही मुनि लेते हैं।

आहार की शुभवृत्ति उठे, उसकी कहीं मुनियों के मुख्यता नहीं है, परन्तु आहार की वृत्ति के उपरांत आत्मा का ध्यान वर्तता है; ज्ञानप्रकाशी आत्मा का ध्यान वर्तता है, वही वास्तव में तप है। चैतन्यसूर्य के ध्यानरूप जो तप है, उसके द्वारा मुनिराज दैदीप्यमान ऐसी मुक्तिरमणी को प्राप्त करते हैं।

पूर्ण ज्ञानप्रकाशी आत्मा का बारम्बार निर्विकल्प आनंदमय ध्यान मुनिवरों के वर्तता है। ऐसे मुनिवर ही मुक्ति-सुन्दरी का वरण करने योग्य हैं; इसके सिवा उद्धत जीव सुंदर मुक्तिरूपी रमणी का वरण करने योग्य नहीं हैं। मुक्तिरमणी कहती है कि ऐसे मिथ्यादृष्टि का वरण मैं नहीं करूँगी। शुद्ध रत्नत्रय के साधक ऐसे मुनिवर का ही मैं वरण करती हूँ।

एकबार एक कुलीन कन्या के विवाह का अवसर था। बारात आई और पाणिग्रहण का समय आ पहुँचा। पाणिग्रहण में थोड़ी देर थी, वहाँ वर को ऐसा लगा कि जिस कन्या के साथ मेरा विवाह हो रहा है, उसे स्वयं अपनी आँखों से देखकर पसन्द कर लूँ। ऐसे विचार आते ही उसने कन्या को देख लेने की इच्छा प्रगट की। कन्या का पिता घबरा गया; किंतु कन्या अति सुन्दर और साहसी थी! उसने कहा—''पिताजी! वे भले ही आकर मुझे देख लें, उन्हें बुलाओ!'' वर को कन्या देखने के लिये बुलाया गया। कन्या को देखते ही वह चकित होकर रह गया! कन्या ने कहा—''क्यों, कुछ पूछना है?'' वर बोला—''अरे, इसमें क्या पूछना है?'' कन्या बोली—''बराबर पसंद आ गई न?'' वर बोला—''हाँ!''—इतना कहकर वर चलने लगा; किंतु कन्या बोली—''ज़रा ठहरो!'' वर खड़ा रहा, तब कन्या ने कहा—''तुमने तो मुझे पसंद कर लिया, लेकिन यह तो पूछो कि मैं भी तुम्हें पसंद करती हूँ या नहीं!'' वर बोला—''क्यों, क्या इसमें भी कुछ कहना है?'' कन्या बोली—''हाँ, सुनो! मैं तुम जैसे उद्धत को पसंद नहीं करती, इसलिये जैसे आये हो, वैसे ही वापिस चले जाओ!''

—उसी प्रकार यहाँ उद्धत अर्थात् अज्ञानी मूढ़ जीव। वह कहता है कि मुझे मुक्ति-सुंदरी

का वरण करना है, मुझे मुक्ति चाहिये है; मैं मुक्ति के लिये ही यह व्रतादि शुभराग करता हूँ।—इसप्रकार अज्ञानी शुभराग द्वारा मुक्ति प्राप्त करना चाहता है और कहता है कि मुझे स्वर्गादि कुछ नहीं चाहिये; मैं तो मुक्ति को ही पसंद करता हूँ। किंतु ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई! तू मुक्ति से तो पूछ कि वह तुझे पसंद करती है या नहीं? मुक्ति-सुंदरी तेरे लाख शुभराग से भी प्रसन्न नहीं हो सकती। वह तो कहती है कि अरे! यह व्रतादि के राग से धर्म मनानेवाला जो सर्वज्ञ-वीतराग का विरोधी है, उद्धत है, इसे मैं पसंद नहीं करती; मैं तो सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक वीतरागी कुलीनता से शोभायमान मुनिवरों को ही पसंद करती हूँ। राग से या व्यवहार के आश्रय से धर्म मनानेवाले मूढ़ जीवों को मुक्ति-सुंदरी पसंद नहीं करती, अर्थात् वे कभी मुक्ति को प्राप्त नहीं होते। सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक वीतरागी मोक्षमार्ग पर चलनेवाले मुनिवरों को ही मुक्ति-सुंदरी चाहती है—अर्थात् वे ही मुक्ति-सुंदरी के नाथ होते हैं।

जय हो मुक्ति-सुंदरी के नाथ की! ●●

मुक्ति के उपाय का प्रथम सोपान

अंतर के चिदानन्दस्वभाव को पहिचानकर उसमें एकाग्रता से राग दूर करके जिन्होंने सर्वज्ञता प्रगट की, उन सर्वज्ञपरमात्मा की दिव्यध्वनि में ऐसा उपदेश निकला कि—अरे आत्मा! तूने कभी अपने मूलस्वभाव की ओर दृष्टि नहीं की; तेरा आत्मा एक समय में परिपूर्ण ज्ञान और आनन्दस्वभाव से भरपूर है; उसे पहिचानकर उसकी प्रीति कर। अंतरआत्मा में एकाग्र होने से राग दूर होकर सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है; इसलिये राग तेरा सच्चा स्वरूप नहीं है किन्तु पूर्णज्ञान तेरा स्वरूप है।—इसप्रकार राग से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय करना, वह मुक्ति के उपाय का प्रथम सोपान है।

कृतकृत्यपना

[वींछिया ग्राम में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन : ज्येष्ठ कृष्णा १०]

जिसने अपने ज्ञानानन्दस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी सम्यक् प्रतीति की-ज्ञान किया और उसमें एकाग्रता की, उसने करने योग्य अपूर्व कार्य किया, इसलिये वह कृतकृत्य हो गया। भाई! आत्मा के स्वभाव की प्रतीति करके उसमें स्थिर हो—यही तेरा सच्चा कार्य है; इसके सिवा पर के कार्य तेरे नहीं हैं। स्वभाव में से पूर्णता प्रगट करके कृतकृत्य हुआ जा सकता है, किन्तु पर के कार्य पूरे करके कृतकृत्यता नहीं हो सकती। आत्मा में ही आनन्द है,—ऐसा जिसने निर्णय नहीं किया, वह भले ही पुण्य करके स्वर्ग प्राप्त कर ले, तथापि वह अकृतकृत्य ही है।

इस पद्मनन्दि पंचविंशतिका को ''अमृत'' कहते हैं। वन में वास करनेवाले और आत्मा के आनन्द में झूलनेवाले पद्मननिद मुनिराज ने इस शास्त्र की रचना की है, इसलिये श्रीमद् राजचन्द्र इस शास्त्र को वनशास्त्र कहते हैं और उसका फल अमृत हैं, अर्थात् इसमें कहे हुए यथार्थ भावों का ज्ञान करने से अमर ऐसे मोक्षपद की प्राप्ति होती है। यहाँ इसका निश्चय-पंचाशत अधिकार पढ़ा जा रहा है; उसकी तेरहवीं गाथा में कहते हैं कि—

सम्यक् सुखबोधदशां त्रितयमखण्डं परात्मनोरूपम्।
तत्तत्र तत्परो यः स एव तल्लब्धि कृतकृत्यः॥

सम्यक् दर्शन, ज्ञान और सुख—तीनों आत्मा का अखण्ड स्वरूप है। वे आत्मा से पृथक् नहीं हैं; इसलिये जो जीव परम आत्मस्वरूप में लीन होकर उनकी आराधना करता है, उसे सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की प्राप्ति होती है और कृतकृत्य हो जाता है।

भाई! सुख आत्मा में है; तेरे आत्मा के सिवा बाह्य में स्त्री-शरीर-लक्ष्मी-मकानादि किन्हीं संयोगों में तेरा सुख नहीं है। सुख तो आत्मा का अनादि-अनन्त स्वभाव है। आत्मा के ज्ञान-आनन्दस्वभाव की प्रतीति जीव ने पहले कभी नहीं की। जैसे—किसी मनुष्य के एक हाथ में चिंतामणि रत्न हो, और दूसरे में पत्थर हो; वहाँ चिन्तामणि से तो जिस वस्तु का चिंतन करे तो वह मिलती है; किन्तु उसकी प्रतीति न करे और इस पत्थर से मुझे सुख मिलता है—ऐसा मानकर उसे

पकड़ रखे तो लोक में उसे मूर्ख कहा जाता है। उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानानन्दस्वभाव चैतन्यचिन्तामणि है; उस स्वभाव में अन्तर्मुख दृष्टि करे तो आत्मा को आनन्द का अनुभव हो और कृतकृत्य हो जाये। किन्तु जीव अपने ऐसे स्वभाव की प्रतीति नहीं करता और बाह्य पदार्थों में मेरा सुख है—ऐसा मानकर पर की ममता करके दु:खी होता है। परवस्तु तो अपनी नहीं हो सकती, तथापि अनादि से पर को अपना बनाने का प्रयत्न कर रहा है। वहाँ तो उसका प्रयत्न व्यर्थ है; और आत्मा ज्ञानानन्दस्वभाव से भरपूर है; उसके सन्मुख होकर एकाग्रता करे तो कृतकृत्यता हो और आनन्द प्रगटे। अहो! मैं ज्ञान-दर्शनमय हूँ; शांति का पिण्ड हूँ; परवस्तु के कार्य मेरे आधीन हैं ही नहीं;—ऐसा यथार्थ भान करके अंतर में एकाग्र होने से कृतकृत्य हो जाता है। इसके सिवा परवस्तु के कार्य करना चाहे या पर में से सुख लेना चाहे तो वह बात ही अशक्य है, इसलिये उसमें कभी कृतकृत्यता नहीं होती। इसलिये हे भाई! एकबार तो सत्समागम से ऐसा निर्णय कर कि—"मैं चैतन्यस्वरूप हूँ; आनंद मेरे स्वभाव में ही है—ऐसी यथार्थ प्रतीति और बोध करके मैं अपने आत्मा का आनन्द प्राप्त कर सकता हूँ, किन्तु परवस्तु कभी मेरी नहीं हो सकती।"—ऐसी अंतर्स्वभाव की प्रतीति करने से अतीन्द्रिय आनंद के अंश का जितना अनुभव होता है, उतना कृतकृत्यपना है। इसके सिवा बाह्य में अनेक संयोग इकट्ठे हों या अनेक कार्य हों, उनमें आत्मा की कृतकृत्यता नहीं है। जिसप्रकार लैंडीपीपर के प्रत्येक दाने में परिपूर्ण चरपराहट की शक्ति भरी है, उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में ज्ञान और आनंद की परिपूर्ण शक्ति भरी है; उसका विश्वास करके अवलम्बन लेने से कृतकृत्यपना प्रगट होता है। इसके सिवा बाह्य कार्य पूरे करना चाहे तो वह अशक्य है; क्योंकि परवस्तुओं के कार्य आत्मा के आधीन नहीं हैं।

स्वभाव में से पूर्णता प्रगट करके कृतकृत्य हो सकता है, किन्तु पर के कार्य पूरे करने से कृतकृत्य हो जाये—ऐसा नहीं हो सकता। जो वस्तु अपनी नहीं है, उसके कार्य का अभिमान करे तो वह व्यर्थ है। जीव की इच्छा होती है, किन्तु उस इच्छा के कारण पर के कार्य नहीं हो सकते। प्यारे से प्यारा पुत्र मर रहा हो, उसे बचाने की तीव्र इच्छा होने पर भी तू नहीं बचा सकता; इसलिये हे भाई! तेरी इच्छा पर में काम नहीं आती, और इसी से उस इच्छा द्वारा भी कृतकृत्यपना नहीं होता। तेरे आत्मा में सर्वज्ञ होने की शक्ति भरी है; केवलज्ञान और परिपूर्ण आनन्द प्रगट होने की शक्ति तुझ में है, किन्तु परवस्तुओं के कार्य करने की शक्ति तुझ में नहीं है। पहले यथार्थ निर्णय करके आत्मा के ऐसे स्वभाव को प्रतीति में ले तो श्रद्धा में कृतकृत्यता हो जाये। पर के कार्य मैं करता हूँ और पर मे मेरा सुख है—ऐसा मानकर अनादि से अकृतकृत्यरूप से वर्त रहा है; इसलिये आकुलता से संसार

में भटकता है। अनादिकाल से एक क्षण भी आनन्दस्वभाव का निर्णय नहीं किया है। कृतकृत्य तो तब कहलाता है, जब अंतर के स्वभाव का निर्णय करके आनन्द के अनुभवरूप कार्य को व्यक्त करे। उस कार्य का कारण कौन ? अंतर में शुद्ध चिदानन्द सर्वज्ञशक्ति का पिण्ड आत्मा है, वही ध्रुव कारण है, उस कारण में से आत्मा के आनन्द का कार्य प्रगट होता है। इसके सिवा बाह्य संयोग या पुण्य-पाप, आत्मा के आनन्द का कारण नहीं है। आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव के सन्मुख होकर जिसने सम्यक् प्रतीति की, उसने अनंतकाल में न किया हुआ कुछ अपूर्व कम किया है। जिसने आत्मा के स्वभाव की प्रतीति नहीं की—आत्मा में ही आनन्द है—ऐसा निर्णय नहीं किया, वह भले ही पुण्य करके स्वर्ग में चला जाये, तथापि वह अकृतकृत्य है—उसने करने योग्य सच्चा कार्य नहीं किया है। ''अहो! संयोगों में या पुण्य-पाप में मेरा सुख नहीं है; मेरा आत्मा ही ज्ञान-दर्शन और आनन्दस्वरूप है; उसी में मेरा सुख है''—ऐसा जिसने स्वसन्मुख निर्णय किया, उसने अपूर्व कार्य किया है, वह सम्यग्दर्शन में कृतकृत्य हो गया। स्वभावरूप कारणपरमात्मा है, उसके अवलम्बन से धर्मरूपी कार्य प्रगट हुआ। अहो! जिसने ऐसा आनंदस्वभाव का निर्णय किया है, वह भले ही आठ वर्ष की बालिका हो, अभी शुभाशुभभाव होते हों, तथापि उस क्षण आत्मा में जितनी अंशतः अतीन्द्रिय शांति वर्तती है, उतना कृतकृत्यपना वर्तता है; और चैतन्यस्वभाव के निर्णय बिना भले ही शुभराग करे और लाखों रुपये दान में खर्च करे; लोग उसे बड़ी-बड़ी पदवियाँ दें, किन्तु उसमें आत्मा का किंचित् कृतकृत्यपना नहीं है। बाह्य कार्य तो उनके अपने काल में होते ही रहते हैं, वह कहीं जीव का कर्तव्य नहीं है और राग हो वहाँ ''यह राग मेरा कार्य और मैं इसका कर्ता'' —ऐसा मानकर जो रुकता है, वह भी अधर्मी है; उसे आत्मा की शांति की खबर नहीं है। मेरी शांति मेरे आत्मा में ही है; बाह्य में या राग में मेरी शांति नहीं है; मेरा आत्मा चैतन्यचिन्तामणि रत्न जैसा है; उसमें जो चिन्तन करूँ, वह प्राप्त होता है अर्थात् अपने आत्मा को लक्ष में लेकर उसका चिंतवन करने से अतीन्द्रियज्ञान और आनंद की प्राप्ति होती है—इसप्रकार जिसने अपने ज्ञानानंदस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी सम्यक् प्रतीति की—ज्ञान किया और उसमें एकाग्रता की, उसने करने योग्य अपूर्व कार्य किया है; इसलिये वह कृतकृत्य हो गया। भाई! आत्मा के स्वभाव की प्रतीति करके उसमें स्थित हो—वही तेरा सच्चा कार्य है, इसके सिवा पर के कार्य तेरे नहीं हैं और जो राग होता है, वह भी वास्तव में तेरा कर्तव्य नहीं है। इसलिये हे भाई! एकबार तो अन्तर्मुख होकर स्वभाव का निर्णय कर और अनंतकाल में न किया हुआ ऐसा अपूर्व कार्य प्रगट कर।●●

सर्वत्र अंतरंग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति

''कुदो ? पयडिविसेसादो। ण च सव्वाइं कज्जाइं बज्झत्थमवेक्खिय ये उप्पज्जंति, सालिबीजादो जबंकुरस्य वि उप्पत्तिप्पसंगा। ण च तारिप्पाइं दव्वाइं तिसु वि कालेसु कहिं पि अत्थि, जेसिं बलेण सालिबीजस्स जबंकुरुप्पायणसत्ती होज्ज, अणवत्थापसंगादो। तम्हा कम्हि वि अंतरंगकारणादो चेव कज्जुप्पत्ती होदि त्ति णिच्छओ काव्यवो।''

(हिन्दी अर्थ) क्योंकि, प्रकृति-विशेष होने से इन सूक्तोक्त प्रकृतियों का यह स्थितिबन्ध होता है। सभी कार्य एकान्त से बाह्य अर्थ की अपेक्षा करके ही नहीं उत्पन्न होते हैं, अन्यथा शालिधान्य के बीज से जौ के अंकुर की भी उत्पत्ति का प्रसंग प्राप्त होगा। किन्तु उसप्रकार के द्रव्य तीनों ही कालों में किसी भी क्षेत्र में नहीं हैं कि जिनके बल से शालिधान्य के बीज से जौ के अंकुर को उत्पन्न करने की शक्ति हो सके। यदि ऐसा होने लगेगा तो अनवस्था दोष प्राप्त होगा। इसलिये कहीं पर भी अन्तरंग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है—ऐसा निश्चय करना चाहिये। (श्री षट्खण्डागम पु. ६, पृ. १६४)

दसवें गुणस्थानवर्ती जीव को लोभ का सूक्ष्म अंश और योग का कम्पन वर्तता है, वहाँ उसे मोह की कुल सत्रह प्रकृतियों (ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ४, अन्तराय की ५, सातावेदनीय १, उच्चगोत्र १, यशकीर्ति १—ऐसी १७ प्रकृतियाँ) का बन्ध होता है। उनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की ही होती है; जबकि सातावेदनीय की स्थिति १२ मुहूर्त की तथा गोत्र और नामकर्म की स्थिति आठ मुहूर्त की बँधती है। छहों कर्मों का बंध एक साथ होने पर भी इसप्रकार स्थिति में अन्तर पड़ता है। स्थिति में ऐसा अन्तर क्यों पड़ता है ?—ऐसा प्रश्न उठने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि—प्रकृति-विशेष होने से;—अर्थात् उस-उस मुख्य प्रकृति का अन्तरंग कारण ही वैसा है, और उस अंतरंग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है।

आत्मा के कषाय परिणाम हुए तथा योग का कम्पन हुआ, उसके निमित्त से कर्म होने योग्य परमाणु कर्मरूप में परिणमित हो गये। उनमें से वेदनीयकर्म में सबसे अधिक संख्या में परमाणु जाते हैं और दूसरे कर्मों में थोड़े। वहाँ कहीं आत्मा की ऐसी इच्छा नहीं है कि वेदनीयकर्म में अधिक परमाणु डाल दूँ और दूसरे कर्मों में थोड़े !—किन्तु परमाणुओं का ही ऐसा स्वभाव है कि वे

अपनी-अपनी योग्यतानुसार परिणमित हो जाते हैं। ''योग्यता'' अन्तरंग कारण है और उसके अनुसार ही कार्य होता है।

देखो, मोहनीयकर्म के परमाणु उत्कृष्ट ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति तक रहते हैं, जब कि आयुकर्म के परमाणु उत्कृष्ट ३३ सागरोपम तक ही रहते हैं।—ऐसी ही उस-उस कर्मप्रकृति की स्थिति है। कोई कहे कि मोहकर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम की और आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति सिर्फ ३३ सागरोपम की ही,—ऐसा क्यों? तो षट्खण्डागम में आचार्यदेव कहते हैं कि प्रकृति-विशेष होने से इसप्रकार स्थितिबंध होता है, अर्थात् उन-उन विशेष प्रकृतियों की वैसी ही अन्तरंग योग्यता है, और उनकी योग्यतारूप अन्तरंग कारण से ही वैसा कार्य होता है। ऐसा कहकर वहाँ आचार्यदेव ने महान सिद्धान्त बतलाया है कि—''सर्वत्र अन्तरंग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है;''—ऐसा निश्चय करना।

ऊपर भिन्न-भिन्न कर्मों की भिन्न-भिन्न स्थिति के संबंध में कहा, तदनुसार ही—''वेदनीय कर्म में परमाणुओं की संख्या अधिक, और दूसरे कर्मों में थोड़ी—ऐसा क्यों?''—ऐसा कोई पूछे तो उसका भी यह समाधान है कि उन-उन प्रकृतियों का ऐसा ही स्वभाव है। स्वभाव कहो, योग्यता कहो, या अन्तरंग कारण कहो—उसी से कार्य की उत्पत्ति होती है। इसके सिवा बाह्य कारणों से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। यदि कभी भी बाह्य कारणों से कार्य की उत्पत्ति हो तो चावल के बीज में से गेहूँ की उत्पत्ति होना चाहिये; किन्तु ऐसा कभी नहीं होता।

निमित्त तो बाह्य कारण है; उस बाह्य कारण के कोई द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव ऐसे सामर्थ्यवान नहीं हैं कि जिनके बल से नीम के वृक्ष से आमों की उत्पत्ति हो अथवा चावलों में से गेहूँ उत्पन्न हो जायें, या जीव में से अजीव हो जायें। नीम की जड़ में चाहे जितना आम का रस भर दिया जाये, तथापि उससे आम उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि बाह्य कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। यदि बाह्य कारण के अनुसार कार्य की उत्पत्ति होती हो तो अजीव का निमित्त मिलने पर जीव भी अजीव हो जायेगा!—किन्तु ऐसा कभी नहीं होता; सर्वत्र अन्तरंग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है, बाह्य कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।

[—पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से]

मानस्तम्भ-प्रतिष्ठा-महोत्सव

और

शुद्धनय के अवलम्बन का उपदेश

[सोनगढ़ में मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

[चैत्र शुक्ला पंचमी, वीर सं. २४७९]

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! जो जीवों ने कभी नहीं देखा है—ऐसा आत्मा का पर से भिन्न शुद्ध एकत्व ज्ञायकस्वरूप मैं अपने आत्मवैभव से बतलाता हूँ। अनंतकाल से जीवों को जो कुछ समझना बाकी रह गया है, वह मैं समझाता हूँ। संसार में अज्ञानियों को सब सुलभ है, मात्र आत्मस्वभाव की समझ ही परम दुर्लभ है।

[अंक १२३ से आगे]

सम्यग्दर्शन का अचूक उपाय

देखो, यह सम्यक्त्व का पुरुषार्थ! ऐसा पुरुषार्थ जीव ने पहले कभी नहीं किया है। कोई कहे कि हम पुरुषार्थ तो बहुत करते हैं, किन्तु सम्यक्त्व नहीं होता;—तो ज्ञानी कहते हैं कि भाई! तेरी बात झूठी है। यथार्थ कारण दे और कार्य न आये—ऐसा नहीं हो सकता। यदि कार्य प्रगट नहीं होता तो समझ कि तेरे प्रयत्न में भूल है। सम्यग्दर्शन होने की जो रीति है, उस रीति से अंतर में यथार्थ प्रयत्न करे और सम्यग्दर्शन न हो—ऐसा हो ही नहीं सकता। वास्तव में अपूर्व सम्यग्दर्शन का सच्चा उपाय क्या है वह जीव ने कभी जाना ही नहीं और अन्य विपरीत उपायों को सच्चा मान लिया है। जहाँ उपाय ही मिथ्या हो, वहाँ सच्चा कार्य कहाँ से प्रगट होगा? इसलिये यहाँ आचार्यदेव ने सम्यग्दर्शन का सच्चा और अचूक उपाय बतलाया है। यदि यह उपाय समझे और तदनुसार शुद्धनय का अवलम्बन लेकर अन्तर के ज्ञानानन्दस्वभाव को पकड़े तो सम्यग्दर्शन का अपूर्व अनुभव और भेदज्ञान अवश्य हो जाये।

''शुद्धनय का अवलम्बन'' अर्थात् क्या?

प्रश्न :— यहाँ शुद्धनय का अवलम्बन लेने को कहा है, किन्तु शुद्धनय तो ज्ञान का अंश है, पर्याय है; क्या उस अंश के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन होता है?

उत्तर :— शुद्धनय का अवलम्बन वास्तव में कब हुआ कहलाता है ?—अकेले अंश का भेद करके जो उसी के अवलम्बन में अटका है, उसके तो शुद्धनय है ही नहीं, ज्ञान के अंश को अन्तरोन्मुख करके जिसने त्रिकाली द्रव्य के साथ अभेदता की है, उसी के शुद्धनय होता है; और ऐसी अभेददृष्टि की, तब शुद्धनय का अवलम्बन लिया—ऐसा कहा जाता है। इसलिये ''शुद्धनय का अवलम्बन''—ऐसा कहने से उसमें भी द्रव्य-पर्याय की अभेदता की बात है। परिणति अन्तर्मुख होकर द्रव्य में अभेद होने से जो अनुभव हुआ, उसका नाम शुद्धनय का अवलम्बन नहीं है। यद्यपि शुद्धनय ज्ञान का अंश है-पर्याय है, किन्तु वह शुद्धनय अंतर के भूतार्थस्वभाव में अभेद हो गया है; इसलिये वहाँ नय और उसका विषय अलग नहीं रहे। जब ज्ञानपर्याय अन्तरोन्मुख होकर शुद्ध द्रव्य के साथ अभेद हुई, तभी शुद्धनय निर्विकल्प है। ऐसा शुद्धनय कतकफल के स्थान है। जिसप्रकार गँदले पानी में कतकफल औषधि डालने से वह निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार कर्म से भिन्न शुद्ध आत्मा का अनुभव शुद्धनय से होता है; शुद्धनय से भूतार्थस्वभाव का अनुभव करने से आत्मा और कर्म का भेदज्ञान हो जाता है।

भवरोग मिटाने की सच्ची औषधि

देखो, यह सच्ची औषधि! अनादि से जीव को मिथ्यात्वरूपी रोग लगा है; वह इस शुद्धनयरूपी औषधि से मिटता है। स्वसन्मुख पुरुषार्थ द्वारा शुद्धनय का अवलम्बन लेकर शुद्ध आत्मा का अनुभव करते ही तत्काल भेदज्ञान हो जाता है और अनादिकालीन भ्रमणरोग मिट जाता है। यह बात अपूर्व समझने योग्य है; इसे समझकर अन्तर में यथार्थ निर्णय करना, वह सम्यग्दर्शन का कारण है। यथार्थ करने योग्य कार्य तो यही है; इसके सिवा अन्य सब व्यर्थ हैं; उसमें कहीं भी आत्मा का हित नहीं है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि को मापने की रीति

त्रिकाली भूतार्थस्वभाव का अवलोकन करना ही सम्यक् अवलोकन है। जो भूतार्थस्वभाव का अवलम्बन करते हैं, वे ही सम्यक् स्वभाव का अवलोकन करनेवाले सम्यग्दृष्टि हैं; इसके सिवा अन्य जो अभूतार्थ का आश्रय करते हैं—अर्थात् निमित्त के—राग के—पर्याय के या भेद के आश्रय से कल्याण मानते हैं, वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं, क्योंकि वे आत्मा के अखण्ड परिपूर्ण स्वरूप को नहीं देखते किन्तु क्षणिक अंश को ही देखते हैं, इसलिये वे मिथ्यादृष्टि हैं।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का माप बाह्य की क्रिया से नहीं होता, किन्तु अन्तर की दृष्टि कहाँ पड़ी है, उस पर से सम्यक्त्व या मिथ्यात्व का माप निकलता है। पुत्र मर जाये, वहाँ सम्यक्त्वी ज्ञानी को शोक होता है और चौधार आँसू बहते हैं; तथापि उस समय भी उसकी दृष्टि में भूल नहीं

है;—मात्र अस्थिरता का राग है, उसका अल्पदोष है; और अज्ञानी वैसे प्रसंग पर कदाचित् न भी रोता हो, और वैराग्य की बातें कर रहा हो, तथापि उसकी दृष्टि में भूल है; वह राग के आश्रय से लाभ मानता है, इसलिये उसकी विपरीत दृष्टि का अनंत दोष है।—यह अन्तर की दृष्टि के माप बाहर से नहीं निकल सकते। सम्यग्दृष्टि को कभी-कभी अपनी भूमिका के अनुसार आर्त्त-रौद्रध्यान के परिणाम भी हो जाते हैं; वह रो रहा हो या लड़ाई आदि की क्रिया कर रहा हो, तथापि उस समय भी दृष्टि में से अपने परमार्थ स्वभाव का अवलम्बन नहीं छूटा है; इसलिये उसके दृष्टि का दोष नहीं है—श्रद्धा में भूल नहीं है; इसलिये मिथ्यात्वादिक ४१ कर्मप्रकृतियों का बंधन तो उसके होता ही नहीं है; और अज्ञानी को तो शुभपरिणामों के समय भी दृष्टिदोष के कारण मिथ्यात्वादि कर्मप्रकृतियों का बंधन होता ही रहता है। धर्मी को जो राग-द्वेष हो जाते हैं, वे न तो पर के कारण होते हैं और न स्वभाव की दृष्टि छूटकर ही होते हैं; सिर्फ चारित्र के पुरुषार्थ में मचक आ जाती है। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि बाह्य प्रतिकूल प्रसंगों के कारण ज्ञानी के परिणाम बिगड़ गये, किन्तु उसे ज्ञानी की अन्तर्दृष्टि की खबर नहीं है। अज्ञानी तो उन शुभाशुभपरिणामों के समय उन्हीं में एकाकार होकर भूतार्थस्वभाव को भूल जाते हैं और ज्ञानी अन्तर्दृष्टि द्वारा अपने भूतार्थस्वभाव को उन शुभाशुभपरिणामों से पृथक् ही अनुभव करते हैं। बस! अन्तर में चिदानन्द भूतार्थस्वभाव का आश्रय न छूटना—उसका नाम सम्यग्दर्शन है। उसी प्रसंग में अज्ञानी शुभ-परिणामों से शांति रखे और उसी में ज्ञानी के खेद के परिणाम हो जायें, तथापि उससमय ज्ञानी के तो अंतर में तो भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से सम्यक्त्व का परिणमन हो रहा है, और अज्ञानी को तो भूतार्थस्वभाव का भान भी नहीं है, इसलिये उसे मिथ्यात्व का परिणमन होता है।

अनादिकाल से भवभ्रमण क्यों हुआ और वह कैसे दूर हो ?

हे जीव! अनादि से तूने कभी अपने भूतार्थस्वभाव का संग नहीं किया; पर के संग से लाभ मान-मानकर ही तू संसार में भटक रहा है। असंयोगी चैतन्यस्वभाव का संग छोड़कर निमित्त का संग किया, इसलिये पराधीन भाव से तू संसार में भटकता फिरा। अब स्वसन्मुख होकर अपने भूतार्थस्वभाव की महिमा देख और पर के संग की बुद्धि छोड़कर उसका संग कर; तो उस भूतार्थस्वभाव के संग से तेरा भवभ्रमण दूर हो जायेगा। जड़ कर्म ने जीव को परिभ्रमण नहीं कराया है, किन्तु स्वयं अपने भूतार्थस्वभाव का आश्रय न करने से, यानी अपनी ही भूल से भटका है। पूजा में भी आता है कि—

''करम विचारे कौन भूल मेरी अधिकाई''

अज्ञानी लोग हमेशा पूजा में यह शब्द बोलते हैं, किन्तु उनके अर्थ का विचार नहीं करते

और मानते हैं कि कर्मों के जोर से ही यह जीव संसार में भटका है। किन्तु भाई! यदि जड़ कर्म तुझे परिभ्रमण कराते हों तो तेरा भटकना कब मिटेगा? यदि कर्म ही भटकाते हों तो फिर तुझे तो छुटकारे के लिये कुछ करना ही नहीं रहता। और यदि कर्मों के अपराध से संसार हो तो जड़कर्मों को ऐसा उपदेश देना चाहिये कि हे जड़कर्म! अब तू हट जा! किन्तु कभी किसी शास्त्र में जड़ के लिये उपदेश दिया ही नहीं है। उपदेश तो जीव के लिये ही होता है; क्योंकि जीव अपने ही दोष से भटका है और अपने दोषों को दूर करके वह मुक्ति का उपाय करता है। इसलिये हे जीव! तू अपने आत्मा को कर्म से पृथक् देख! कर्म मुझे भटकाते हैं—ऐसा जो मानते हैं, उन्होंने अभी अपने आत्मा को कर्म से भिन्न नहीं जाना है, इसलिये वे मिथ्यादृष्टि हैं। यहाँ तो कहते हैं कि व्यवहार के अवलम्बन से जो लाभ मानता है, उसने भी कर्म से भिन्न शुद्ध आत्मा को नहीं देखा है, वह भी मिथ्यादृष्टि ही है। भूतार्थ आत्मस्वभाव को कर्म से भिन्न देखनेवालों के लिये व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है; भूतार्थस्वभाव का अनुसरण करनेवाले ही सम्यग्दृष्टि हैं; इसलिये शुद्धनय के विषयभूत ऐसा भूतार्थस्वभाव ही आश्रय करने योग्य है। भूतार्थस्वभाव है, सो मैं हूँ—ऐसी अंतर्दृष्टि से आत्मा को देखना, वह सम्यक्दर्शन हैं। ''भूतार्थस्वभाव का अवलम्बन''—इस एक ही प्रकार से धर्म है; उसी में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का समावेश हो जाता है। फिर व्यवहार से उसे चाहे जिसप्रकार समझाया जाये, किन्तु मुख्य वस्तु तो यह है। गुणस्थानादि के अनेक प्रकार हैं और उनके निमित्त भी भिन्न-भिन्न अनेक प्रकार के हैं;—पर्याय में वह सब सत् है, किन्तु वह सब व्यवहारनय का विषय है; उसके अवलम्बन से सम्यग्दर्शनादि नहीं होते। परमार्थनय के ध्येयरूप भूतार्थस्वभाव एक ही प्रकार का है; इसलिये शुद्धस्वभाव की दृष्टि में भेद नहीं है; उस स्वभाव के अवलम्बन से ही सम्यग्दर्शनादि होते हैं और भवभ्रमण दूर होता है।

—इसलिये जिन्हें धर्म करना है—ऐसे जीवों को शुद्ध आत्मा को देखनेवाला शुद्धनय ही आश्रय करने योग्य है; अशुद्ध आत्मा को देखनेवाला व्यवहारनय आश्रय करने योग्य नहीं है।—इसप्रकार आचार्यदेव ने ग्यारहवीं गाथा में शिष्य के प्रश्न का उत्तर दिया है। इसे समझकर ज्ञान को अंतर के भूतार्थस्वभाव की ओर उन्मुख करके अनुभव करने से शुद्ध आत्मा के आनन्द का अपूर्व अनुभव और सम्यग्दर्शन होता है; उसका नाम धर्म है।●●

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये जमनादास माणेकचंद रवाणी